यज्ञ का महत्त्व एवं प्रासंगिकता

प्रो. युगल किशोर मिश्र

भारतीय मान्यता के अनुसार 'यज्ञ-विद्या' सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आत्मतत्त्व है, अतएव यज्ञ भारतीय संस्कृति का प्राण है। *श्रीमद्भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण का वचन है–

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वं एष वो स्त्विष्टकामधुक्।। गीता 3.10

अर्थात् प्रजापति ने प्रजाओं के सृजन के साथ ही समस्त कल्याण-सम्पदा को प्रदान करने वाले यज्ञ-तत्त्व की सृष्टि की। फलतः सृष्टि, यज्ञ और प्रजा का अत्यन्त निकट सम्बन्ध है, यह बात सिद्ध होती है। आज मानव जाति यज्ञ से दूर हो गई है जिसके फलस्वरूप वह विभिन्न दुःखों से पीड़ित है।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में देवगणों ने जो यज्ञ अनुष्ठित किया था उसके ही धर्म यज्ञ-विद्या में अनुस्यूत होते हैं क्योंकि वे प्रथम धर्म थे। इस यज्ञ के प्रभाव से ही देवगणों को श्री, यश और अनन्त सुख की प्राप्ति हुई। पुरुषसूक्त के अनुसार देवगणों ने जो यज्ञ अनुष्ठित किया था उसमें वसन्त ऋतु आज्य स्थानीय थी, ग्रीष्मऋतु इध्मस्थानीय थी और शरद ऋतु हविष्य स्थानीय थी। वस्तुतः यह देवगण द्वारा प्रकृति के उपादानों से किया जाने वाला एक विशिष्ट प्रकार का 'प्राकृत-यज्ञ' था जो कि प्रकृति में निरवछिन्न रूप से अनुष्ठित होता रहता है।

यज्ञ शब्द यज् धातु से निष्पन्न होता है। यज् धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त है–देवपूजा, संगतिकरण और दान। अपने आराध्य को श्रद्धा भाव से जो कुछ अर्पण किया जाता है वह देवपूजा के अन्तर्गत आता है। यज्ञ के सन्दर्भ में दूसरा अर्थ–संगतिकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रकृति के साथ व्यष्टि का संगतिकरण और समष्टि का व्यष्टि के साथ संगतिकरण होने का माध्यम यज्ञ है। अतः मानव मात्र के लिए यज्ञ एक अपरिहार्य तत्त्व है।

यज्ञ के तीन मुख्य अङ्ग हैं–1. देवता, 2. द्रव्य एवं 3. त्याग। प्रायः हमारी यह धारणा है कि देवतत्त्व एक अचिन्त्य व अलौकिक शक्ति है। वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि देवतत्त्व मनुष्य के साथ प्रतिक्षण रहने वाला तत्त्व है जो कुछ दृष्टियों से मनुष्य पर आश्रित भी है। यद्यपि देवतत्त्व महनीय है साथ ही, वह मानव का अग्रज एवं सर्वैश्वर्य सम्पन्न है। *शतपथ ब्राह्मण* के एक सन्दर्भ के अनुसार प्रजापति ने देवगण एवं मनुष्यों की सृष्टि की और कहा कि स्वर्ग का साम्राज्य देवगणों के अधीन होगा तथा पृथ्वी का साम्राज्य मनुष्यों के अधीन रहेगा। पार्थिव साम्राज्य के अधिपति होने के कारण समस्त पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, नदी-पर्वत आदि के संरक्षण का दायित्व भी मनुष्य पर है। पृथ्वी के ऊर्ध्वस्थ लोकों का आधिपत्य देवगणों के पास होने के कारण उनके संरक्षण का दायित्व देवों का है। शास्त्रों एवं पुराणों के अनुसार स्वर्ग में यद्यपि अनन्त सुख है किन्तु भोज्यान्न का अभाव है; जबकि पृथ्वी पर अनन्त कष्ट होने पर भी भोज्यान्न की प्रचुर मात्रा में सुलभता है। अतः मनुष्य को प्रजापति ने यह निर्देश दिया है कि वह अपने अग्रजन्मा देवगणों को यज्ञ के माध्यम से हविष्यान्न प्रदान करता रहे। यह मानव का नैतिक उत्तरदायित्व है। अतएव श्रुति का वचन है–'इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति'। *श्रीमद्भगवद्गीता* का भी कथन है–

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। गीता 3.11

अतः यज्ञ, देवतत्त्व और मनुष्य को जोड़ने या संगतिकरण का एक साधन है जिसे सर्वदा अनुष्ठित किया जाना चाहिए।

सृष्टि में देवतत्त्व की सत्ता है या नहीं यह प्रश्न बराबर किया जाता है। दूसरा प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि देवतत्त्व अदृश्य है अतः उसकी सत्ता एवं शक्ति की महत्ता को कैसे सिद्ध किया जाय। इस सम्बन्ध में शास्त्रीय समाधान इस प्रकार है–

(क) प्रकृति को देखने पर यह अनुभव होता है कि सम्पूर्ण प्रकृति एक निश्चित एवं मर्यादित व्यवस्था में अनन्त काल से चल रही है। निश्चित एवं मर्यादित व्यवस्था के पीछे किसी चेतन-तत्त्व का होना आवश्यक होता है अन्यथा कुछ काल के बाद वह व्यवस्था स्वत: समाप्त हो जाती है। यत: प्रकृति की व्यवस्था नियमित एवं मर्यादित संचालित है; अत: यह मानने की बाध्यता है कि समस्त सृष्टि-प्रपञ्च के संचालन के पीछे निश्चित ही कोई चेतन-तत्त्व है।

(ख) अदृश्य चेतन-तत्त्व जिसे हम ईश्वर या देवता के नाम से जानते हैं, वह अत्यन्त सूक्ष्म एवं अगोचर होते हुए भी सर्वाधिक शक्तिशाली एवं पूरे ब्रह्माण्ड का नियंत्रक है। जिस प्रकार पञ्चमहाभूतों से बना मनुष्य का शरीर एवं उसकी कर्मेन्द्रियां प्रत्यक्ष हैं किन्तु उसका संचालन अदृश्य एवं सूक्ष्म मन के द्वारा होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का संचालन अमूर्त किन्तु निरतिशय शक्ति-सम्पन्न 'ईश्वर' द्वारा होता है। अत: यह सिद्ध है कि स्थूल (= प्रत्यक्ष) से अधिक शक्तिशाली सूक्ष्म (= अमूर्त) है जो कि स्थूल का न केवल नियंत्रण करता है अपितु संचालन भी करता है।

आचार्य यास्क ने अपने ग्रन्थ निरूक्त में 'देव' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है कि–'देवो-दानाद् वा, द्योतनाद् वा, दीपनाद् वा'। अर्थात् ब्रह्माण्डीय शक्तियां जो सृष्टि के समस्त जड़-चेतन तत्त्वों का पोषण करती हैं, उन्हें यथा योग्यता ऊर्जित करती हैं एवं विकसित करती हैं, वे देवतत्त्व हैं। हमारे इस पिण्ड शरीर का देवतत्त्व द्वारा ऊर्जित होने का एक प्रमाण यह है कि जब मनुष्य थक कर सोता है और उसके बाद जब प्रात: काल उठता है तो वह अपने को स्फूर्त अनुभव करता है। यह ऊर्जा उसे रात्रि देवता के माध्यम से प्राप्त होती है। इसलिए पिण्ड शरीर को स्फूर्त अथवा ऊर्जित करने वाली शक्तियां ही देवतत्त्व के रूप में परिभाषित की गई हैं।

शास्त्रों के अनुसार यज्ञ तीन स्तरों पर अनुष्ठित होता है– (1) ब्रह्माण्ड के स्तर पर, (2) पिण्ड शरीर के स्तर पर और (3) भौतिक स्तर पर। सृष्टि के स्तर पर परात्पर पुरुष द्वारा वसन्त ऋतु रूप आज्य, ग्रीष्म रूप ईन्धन और शरद ऋतु रूप हविष्य के द्वारा अहर्निश सम्पन्न किया जा रहा है। पिण्ड शरीर के स्तर पर आत्मतत्त्व के द्वारा प्राणादि वायु के ग्रहण एवं त्याग (श्वास लेने एवं श्वास छोड़ने आदि) रूप से अनुष्ठित होता है। भौतिक स्तर पर मनुष्य द्वारा यज्ञ शास्त्र विहित विभिन्न पदार्थों के मंत्रपूर्वक अग्नि में प्रक्षेपण एवं त्याग द्वारा अनुष्ठित होता है।

तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो 'यज्ञ' परात्पर पुरुष के द्वारा विराट्-तत्त्व के लिए उसी के द्वारा प्रदान किये गये द्रव्यों द्वारा अनुष्ठित होता है। अत: मानव का उसमें कोई कर्तृत्व नहीं रहता। अतएव शास्त्र का कथन है–

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि: ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।। गीता 4.24

श्लोक के उपर्युक्त आशय को दृष्टिगत रखते हुए ही यज्ञादि सभी कर्मों की समाप्ति पर यजमान द्वारा "इदं न मम" कहने का विधान है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार यज्ञों के तीन भेद हैं– (1) श्रौत यज्ञ, (2) तान्त्रिक यज्ञ तथा (3) मिश्र यज्ञ। साक्षात् श्रुति द्वारा प्रतिपादित एवं कल्पसूत्रों द्वारा निर्दिष्ट यज्ञ 'श्रौत यज्ञ' कहे जाते हैं। आगमोक्त विधियों द्वारा अनुष्ठित यज्ञ 'तान्त्रिक यज्ञ' कहलाता है। श्रुति, स्मृति एवं आगम मिश्रित विधियों द्वारा अनुष्ठित होने वाले यज्ञ 'स्मार्त या मिश्र यज्ञ' कहे जाते हैं। शास्त्र का निर्देश है कि यज्ञ के माध्यम से मनुष्य ऐहिक एवं आमुष्मिक सभी प्रकार के फल प्राप्त कर सकता है किन्तु शर्त यह है कि यज्ञ की सारी विधियां शास्त्रों के अनुसार अनुष्ठित होनी चाहिए। यज्ञ की किसी भी विधि में किञ्चित् मात्रा भी यदि त्रुटि रह जाती है तो फलोत्पत्ति की सम्भावना संदिग्ध हो जाती है। अतएव *श्रीमद्भगवद्गीता* में कहा गया है–

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।। गीता 16.23

उपर्युक्त श्लोक के निहितार्थ पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि यज्ञ एक वैज्ञानिक तत्त्व है। जिस प्रकार रसायन-विज्ञान जल के उत्पत्ति सूत्र- H_2O को बताते हुए यह संकेत करता है कि हाइड्रोजन की दो मात्रा और आक्सीजन की एक मात्रा के सम्मिश्रण से जल की एक बूंद बनती है किन्तु यदि इन दो तत्त्वों की मात्राओं में थोड़ा भी विपर्यय हो जाए तो जल की उपलब्धि नहीं होगी; ठीक इसी प्रकार यज्ञ विधियों में थोड़ी सी भी त्रुटि से उसकी फलोत्पत्ति संदिग्ध हो जाती है। अतः यज्ञानुष्ठान करते समय इस बात की ओर विशेष सावधानी रखनी चाहिए।

प्रायशः प्रत्येक यज्ञ में 'वेदि' बनाई जाती है। वेदि के महत्त्व के विषय में *शतपथ ब्राह्मण* में यह प्रतिपादित किया गया है कि पुरा काल में आसुरी शक्तियों ने देवगणों को परास्त कर सम्पूर्ण पृथ्वी पर आधिपत्य कर लिया तथा असुरों ने परस्पर पृथ्वी का बँटवारा भी प्रारम्भ कर लिया। तब देवताओं ने वामन रूप भगवान् विष्णु के नेतृत्व में असुरों से जाकर कहा कि यतः हम आपके भ्राता हैं अतः पृथ्वी के बंटवारे में हमें भी हिस्सा मिलना चाहिए। असुरगण पहले तो राजी नहीं हुए किन्तु बाद में अन्यायपूर्ण ढंग से कहा कि हम पृथ्वी का उतना हिस्सा मात्र ही आपको दे सकते हैं जितने हिस्से में यह वामन विष्णु लेट जायेगा। देवताओं ने भगवान् वामन के कहने पर इसे स्वीकार कर लिया और उस छोटे से भूखंड को प्राप्त कर उसे यज्ञ वेदि के रूप में परिणत कर यज्ञानुष्ठान करने लगे। श्रद्धाभाव से यज्ञानुष्ठान करते हुए कालान्तर में देवताओं ने यज्ञ के प्रभाव से सम्पूर्ण पृथ्वी पर आधिपत्य प्राप्त किया और असुरों को पराभूत कर दिया। इस आख्यायिका के द्वारा वेद यह संकेत करता है कि 'विद्लृ लाभे' धातु से बने हुए वेदि शब्द का अर्थ है जिससे अनन्त लाभ एवं कल्याण प्राप्त किया जा सकता है। अतएव इसका नाम वेदि है। तात्पर्य यह है कि यज्ञ वेदि यद्यपि अत्यल्प भूखण्ड है किन्तु श्रद्धाभाव से उस पर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक यज्ञ सम्पादित किये जांय तो उससे हमें अनन्त लाभ एवं कामनाओं की सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

वेद में यह भी निर्देश किया गया है कि यज्ञ वेदि को अपवित्र भाव से या अपवित्र अवस्था में न तो स्पर्श करना चाहिए और न ही उस पर स्थित होना चाहिए। इस विषय में भी *शतपथ ब्राह्मण* में एक आख्यायिका के माध्यम से बताया गया है कि पुराकाल में मनुष्य यज्ञ करने पर भी दुखी रहने लगे एवं दारिद्र्य को प्राप्त होने लगे। तब मनुष्यों ने यज्ञ करना बन्द कर दिया। इसके कारण देवताओं को हविष्यान्न मिलना बंद हो गया और वे भूख से व्याकुल हो उठे। देवताओं ने बृहस्पति को दूत बनाकर मनुष्यों के पास भेजा। बृहस्पति ने मनुष्यों से यज्ञ चालू रखने के लिए कहा तो मनुष्यों ने कहा कि यज्ञ करने से तो हम उत्तरोत्तर विपन्नावस्था में पहुँच गये। तब बृहस्पति ने कारण बताया कि आपलोगों ने यज्ञवेदि को पवित्र नहीं रखा अतः आपको विपरीत फल की प्राप्ति हुई। इस आख्यायिका द्वारा यह संकेत दिया गया है कि यज्ञानुष्ठान के समय पवित्र होकर यज्ञवेदिका में स्थित होना चाहिए और पवित्र भाव से यज्ञानुष्ठान करना चाहिए तभी वह फलदायक होता है।

यज्ञ के सन्दर्भ में वेदों का यह भी उपदेश है कि मनुष्य और देवताओं में मात्र यही अन्तर है कि मनुष्य अपने जीवन में सर्वदा सत्य पर आश्रित नहीं रहता जबकि देवगण सर्वदा सत्य पर आश्रित रहते हैं। अतः मनुष्य जब यज्ञ का संकल्प लेता है तो उसे यह भावना लेनी पड़ती है कि मैं कम से कम यज्ञानुष्ठान तक असत्य का परित्याग कर सत्य की भूमिका में प्रतिष्ठित रहूँ। सत्य की भूमिका में प्रतिष्ठित होकर यज्ञानुष्ठान करने से मानव उतने काल तक देवत्व की भूमिका प्राप्त कर लेता है। धीरे-धीरे यदि मनुष्य सत्य के संस्कार को बढ़ाता जाता है तो वह शीघ्र ही देवत्व कोटि को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में 'यज्ञ' मनुष्यत्व से उठकर देवत्व के संगतिकरण की एक अद्भुत प्रक्रिया है जो निश्चय ही कल्याणदायक है।